विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

विक्रमादित्ययुगीन कालगणना एवं संवत् प्रवर्तन

पं. भागीरथ जोशी

पृष्ठ क्र. 3-4

वैदिक कालीन शिल्प परंपरा

ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 5-6

मुद्रा का आविर्भाव एवं प्राचीनता

अमित बिसेन

पृष्ठ क्र. 7

राजा और राजतंत्र

ओमप्रकाश प्रसाद

पृष्ठ क्र. 8

नगर निर्माण और उसकी विकास गाथा

मिथिलेश यादव

विक्रमादित्ययुगीन कालगणना एवं संवत् प्रवर्तन

पं.भागीरथ जोशी

भारतीय इतिहास महान् राजाओं की गाथाओं से भरा पड़ा है। भारत में ऐसे–ऐसे राजा हुए हैं जो की मृत्युलोक से नीचे स्वनी लोक एवं अन्य लोकों में बिना किसी बाधा के भ्रमण किया करते थे। ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक, नरकलोक जैसा कि 'नासिकेतोपाख्यनं' में आया है कि नचिकेता पिता की आज्ञा से सशरीर नरक, स्वर्ग आदि देखकर आए थे। ऐसे ही एक राजा विक्रमादित्य हुए है इनके पास नवग्रह अपना न्याय करवाने आए थे। इससे यह कह सकते है कि भारतीय भूमि वीरों–संतों एवं विद्वानों की जन्मस्थली रही है। राजा विक्रमादित्य का जन्म महेन्द्रादित्य को पुत्र प्राप्ति के लिए विविध प्रकार की तपस्या एवं व्रत करने पड़े थे। महेन्द्रादित्य की पुत्र की अभिलाषा तथा देवताओं का शिव के यहाँ पहुँचना एक ही समय हुआ। महेन्द्रादित्य ने शिव जी से पुत्र प्राप्ति की इच्छा की एवं देवताओं ने भी पृथ्वी पर से सनातन धर्म के उद्धार की प्रार्थना की, तब शिव जी ने देवताओं को संतुष्ट कर भेजा की शीघ्र ही मैं धर्मोद्धार का कार्य करूँगा। राजा महेन्द्रादित्य को भी आशीर्वाद दिया कि शीघ्र ही तुम्हारे यहाँ पुत्र होगा। इसके बाद शिवजी ने पार्वती के पास बैठे हुए अपने गण 'माल्यवंत' से कहा कि वत्स! मृत्युलोक में जाकर राजा महेन्द्रादित्य के घर वीर पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण करो। शिवजी की आज्ञा पाकर माल्यवंत नामक गण ने महेन्द्रादित्य के पुत्र के रूप में कलियुगाब्द 3000 में वैशाख शुक्ल पक्ष द्वितीया गुरुवार को मध्याहन काल में कर्क लग्न में जन्म ग्रहण किया। ये ही बड़े होकर विक्रमादित्य कहलाए। यह भी कहा जाता है कि राजा विक्रमादित्य के बड़े भाई राजा भृर्तहरि हुए हैं। विक्रमादित्य के पिता का नाम महेन्द्रादित्य एवं माता का नाम सौम्यदर्शना था। परन्तु ग्रन्थ भेद से देखे तो पिता का नाम गर्दभिल्ल, गंधर्वसेन, गर्दभ वेशधारी, गधर्व एवं माता का नाम वीरमती, मदनरेखा भी आया है। भाई में दो नाम आते है शंख एवं भृर्तहरि परन्तु इनमें भी अधिकांश भृर्तहरि को ही मानते हैं। प्रबंध हिन्तामणि के अनुसार प्रियगुमंजरी नाम की एक बहन का उल्लेख भी आया है। इनकी कुल सात पत्नियाँ थी। इनमें से मुख्य दो थी मलयावती एवं मदनलेखा। विक्रमादित्य काल्पनिक चरित्र? ऐसे सवाल कई बार उठ चुके है। लेकिन भारतीय ग्रन्थ जैसे वेद एवं पुराण प्रामाणिक ग्रन्थ है। जब हम इनको समझ नहीं पाते हैं। तो काल्पनिक कह देते हैं। सबसे पहले आकाश में उड़ने के लिए पुष्पक विमान का वर्णन रामायण में प्राप्त होता है परन्तु जब तक हमने वायुयान नहीं बना लिया तब तक हम पुष्पक विमान को काल्पनिक ही कहा करते थे। इसी प्रकार से हमारे पास पौराणिक साक्ष्य है परन्तु विदेशी लेखकों को कुछ तथ्य नहीं मिले तो उन्होंने विक्रमादित्य को काल्पनिक बता दिया। हम भी उनका अनुसरण करते हुए यही स्वीकार कर चुके है कि विक्रमादित्य एक काल्पनिक चरित्र है। शास्त्रों में लिखा है कि महाराज विक्रमादित्य का जन्म हुआ है तो उसके प्रमाण के रूप में उज्जैन में हरसिद्धि माता के पास विक्रमादित्य की मूर्ति है। वहीं पास में विक्रमादित्य का सिंहासन भी माना जाता है। उनके आई का नाम मतेहरी आता है। तो राजा अहरी की गुफा भी है। शनि महाराज की कथा में भी आया है कि राजा विक्रमादित्य के हाथ पैर कटवा दिए गए थे। अविष्य पुराण में इनके जन्म एवं बत्तीस पुतलियों का विवरण, बेताल की सिद्धि का विवरण आदि आते हैं। निम्न ग्रंथों में सम्राट विक्रमादित्य का विवरण आया है। ज्योतिर्विदाभरण, बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर, प्रभावकचरित, भविष्यपुराण, दवाविंशत्पुत्तलिका, लोकप्रिय कथाएँ, शनिश्चर कथा, बृहत्संहिता वह श्रीमद्भागवत पुराण। उज्जैन में विक्रम विश्वद्यालय विक्रमादित्य के नाम के आधार पर ही चलता है। दुःख की बात यह है कि जिस भारत में भगवान राम की जन्म तिथि राम नवमी सभी को सार्वजनिक अवकाश रहता है परन्तु जब भगवान राम पर चर्चा की जाती है तो हम उनको भी

काल्पनिक ही कहते हैं। उपरोक्त दस प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि विक्रमादित्य नाम के राजा काल्पनिक नहीं वास्तविकता में उज्जैन में हुए थे। सभी एकमत से कालिदास को स्वीकार करते हैं कि कालिदास बहुत ही बड़े विद्वान हुए हैं और उनके द्वारा कई ग्रंथों की रचना की गई, तो हमको उनके ग्रंथों में आए विवरण को सत्य मानकर विक्रमादित्य थे यह स्वीकारना ही पड़ेगा। कुछ विद्वान भाषा शैली के आधार पर प्राचीन को अर्वाचीन ठहराने की कोशिश करते हैं जो कि गलत है क्योंकि जैसे–जैसे समय बीतता जाता है और भाषा शैली में बदलाव आता है वैसे ही नए लेखक प्राचीन भाषा के स्थान पर वर्तमान की भाषा में ग्रंथों से रचना करते हैं इससे भाषा शैली के आधार पर किसी भी महापुरुष के जन्म से सम्बन्धित जानकारी वास्तविक रूप से ज्ञात नहीं की जा सकती है।

विक्रमादित्य के नो रत्नों में वराहमिहिर का नाम आता है और वराहमिहिर के द्वारा बृहज्जातक, बृहत्संहिता, पंचसिद्धान्तिका (1. पोलिश सिद्धांत 2. रोमक सिद्धांत 3. वसिष्ठ सिद्धांत 4. सूर्य सिद्धांत 5. पितामह सिद्धांत), त्रिकोणमिति के सूत्र आदि विधाएँ उस समय प्रचलित थी परन्तु कुछ वराहमिहिर का जन्म सन् 505 ई. बताते है। इससे काल गणना उनके समय की नहीं कह सकते है परन्तु वराहमिहिर एवं विक्रमादित्य समकालीन थे तो पंचांग गणित उस समय भी चला करता था। यदि हम वराहमिहिर को विक्रमादित्य के समकालीन नहीं मानते है तो भी कालिदास के द्वारा लिखित पुस्तकें और भी लिखी गई जिनमें पूर्वकालामृत एवं उत्तरकालामृत है इनमें ग्रहों के मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। अर्थात् उस समय पंचांग एवं ग्रहगणित का सम्पूर्ण ज्ञान उस समय के विद्वानों को था। क्योंकि बिना पंचांग के जन्म पत्रिका का निर्माण नहीं किया जा सकता है। यदि कालिदास के द्वारा जातक फलित के ग्रन्थ लिखे गए तो उस समय पंचांग की गणना भी निश्चित रूप से चला करती थी।

पश्चिम में सौराष्ट्र से शकों का आक्रमण हुआ उस समय विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य निश्चिन्त थे उन्हें अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा था। परन्तु सौराष्ट्र शकों द्वारा जित लिया गया एवं वहाँ रहकर उनके द्वारा शक्ति का संचय किया गया। शक्ति संचय करके महेन्द्रादित्य के राज्य पर भी शकों द्वारा हमला कर दिया गया। महेन्द्रादित्य बड़ी ही वीरता के साथ लड़े परन्तु सैनिक शक्ति कमजोर होने के कारण उनको बड़ी हार का सामना करना पड़ा एवं उज्जैन छोड़कर भागना पड़ा। यहाँ पर महेन्द्रादित्य एवं विक्रमादित्य दोनों ही बिखर गए परन्तु विक्रमादित्य हार मानने वाले नहीं थे उनके द्वारा पुनः शक्ति का संग्रह किया गया एवं शक की परास्त कर दिया गया। देश के इतिहास में शकों की पराजय एक ऐतिहासिक महत्व की घटना थी। विदेशी शकों के अत्याचारपूर्ण शासन से देश मुक्त हो गया। इस सफलता का श्रेय कई गणराज्यों के सम्मिलित प्रयास को जाता है। जिसमें मालवों ने प्रमुख रूप से भाग लिया था। विक्रमादित्य को शकों पर विजय के कारण शकारि की उपाधि मिली। इस घटना ने देश में शान्ति तथा समृद्धि के युग का आरम्भ किया जिसे अलंकारिक भाषा में कृत कहा गया। भारतीय इतिहास की इस राष्ट्रीय महत्व की घटना की स्मृति में एक संवत् की स्थापना पर विचार किया गया। प्राचीन समय में एक नियम था की संवत् का प्रवर्तन वही व्यक्ति कर सकता है जो कि सम्पूर्ण जनता को कर्जमुक्त कर दे। विक्रमादित्य के द्वारा सम्पूर्ण जनता को कर्ज मुक्त किया गया एवं शकों की पराजय के उपलक्ष्य में संवत् का प्रवर्तन किया गया। पूर्व समय में इस संवत् का नाम 'कृत' था जो की बाद में मालवगण संवत् 'मालवेश का संवत्' कहलाया। अंततो गत्वा नवीं शती के मध्य में इस संवत् को 'विक्रम संवत्' कहा जाने लगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि संवत् की स्थापना का प्रमुख उत्तरदायित्व विक्रमादित्य को ही था। सभी लोकप्रिय तथा जैन अनुश्रुतियाँ इस बात पर सहमत है। कालकाचार्य कथा के अनुसार विक्रमादित्य ने एक उच्च तथा महत्वपूर्ण मालवों का संवत् या 'राजा विक्रम संवत्' सफलता प्राप्त करने के पश्चात् पृथ्वी को भारमुक्त करके अपना संवत् चलाया।

वर्तमान ज्योतिषी की परम्परा संवत्सरों के संस्थापकों की श्रेणी में रखती है। विक्रमादित्य को इतिहास एवं विक्रम संवत् वास्तव में विक्रम संवत् भारत वर्ष की एक सजीव संस्था है, सारे देश में वह जीवित प्रचलित है। सर्वत्र उसी से गणना की जाती है, 2022 वर्ष पूर्ण कर लेने पर भी ईसवी सन्, विक्रम संवत् के अस्तित्व को विनष्ट न कर सका, सतत् 2079 वर्ष की यात्रा करता हुआ वह कालजयी बना हुआ है। भगवद्गीता और मेघदूत की तरह भारत में ही नहीं विश्व में अपना स्थान अक्षुण्ण बनाए हुए है। जिन कारणों से सम्वत्सर प्रणेता शकारि विक्रमादित्य ने 'विक्रम' नाम के साथ अपने संवत् की प्रतिष्ठा की थी। वे कारण थे शकों का पराभव, विदेशियों का निवारण, भारतीय संस्कृति का उद्धार एवं संरक्षण आदि। वस्तुतः शकों की वह पराजय भविष्य के लिए भारतीय स्वतंत्रता की प्रतीक ही बन गई।

वैदिक कालीन शिल्प परंपरा

ईशान अवस्थी

वैदिक कालीन शिल्पी अर्थात्, कलाकार निखिल सृष्टि में व्याप्त सौंदर्य का साक्षात्कार कर स्वयं आनंद की अनुभूति करता है और अपने अनुभूत आनंद को कला–रूप में रूपायित कर आनंद की सृष्टि का सृजन करता है। सृजन करना कलाकार का प्रमुख गुण है और यही गुण सृजन, निर्माण व शिल्प–कार्य करना प्रायः देवताओं का गुण रहा है। समस्त देवगण शिल्पी है जैसे, उषा 'सुशिल्पा' और नृत्यकला की साधिका, दक्ष नृतू है। इंद्र जो देवराज है वह 'सुरूपकलु' है, नृत्य में निपुण नृत है। अग्नि, सोम, मित्र, वरुण और सूर्य आदि सभी देव कवि हैं और कवि का अर्थ है निर्माणकर्ता। वैसे, ऋग्वेद के अनुसार प्रत्येक देव का अपना एक विशिष्ट कार्यक्षेत्र रहा है और प्रत्येक विशिष्ट कार्य के लिए उसके अधिष्ठाता देव की कल्पना भी की गयी है। ऋग्वेद में मूलतः तो छह देव है जिनकी संख्या क्रमशः विस्तार पाते हुए तैतीस और अंत में 3,339 तक पहुँच गयी इतनी बड़ी देव संख्या होने पर उनका उच्च, मध्यम और तृतीय श्रेणी में वर्गीकरण हुआ। निर्माण, सृजन और शिल्पों के देव विश्वकर्मा प्रजापति माने गये जो देवों में सर्व प्रथम देव पद पर प्रतिष्ठित हुए। शिल्प के अन्य देव रहे त्वष्टा, ऋभुगण और वास्तोष्पति, जिनका स्थान इंद्र आदि उच्च श्रेणी के देवों के समान रहा, लेकिन कालांतर में ये उस तृतीय श्रेणी में आ गये जिसमें नर्तकियाँ–अप्सराएँ, गायकगण गंधर्व और यक्ष भी परिगणित थे। विश्वकर्मा प्रजापति विश्व के रचयिता देव है। वह स्वयं ब्रह्मा है, प्रजापति है।

विश्व की रचना करने वाले सबसे पहले शिल्पी, समस्त सृष्टि और देवों के पिता है। वही सृजन और सृष्टि के नियामक है। वह भावात्मक देव है जो ऋग्वेद काल के अंतिम चरण में उभरे और सर्वोच्च देवत्व का प्रतिनिधित्व करने वाले देवों में प्रमुख हो गये। विश्वकर्मन् पद ऋग्वेद में पाँच बार आया है और वह भी उसके अंतिम दसवें मंडल में इसी मंडल में उनके लिए दो समय सूक्त है। इन सूक्तों में उन्हें सर्वसृष्टा ऋषि, प्रथम पुरोहित, सबके पिता, वाचस्पति, मनोजवा, उदार और अशेष संपत्ति के स्वामी, समस्त स्थानों और प्राणियों को जानने तथा समस्त देवताओं का नामकरण करनेवाले एकमात्र देव (देवनाम् नमधा एकमेव) बताया गया है। उनके नेत्र, मुख, भुजाएँ व चरण सभी ओर बताये गये है। वह प्राज्ञ और शक्ति संपन्न व सर्वोच्च सांद्रक है। वह धाता और विधाता है, क्योंकि उन्होंने इस पृथ्वी को उत्पन्न किया है और धौलोक की विश्वकर्मा पद को कई स्थलों पर अन्य देवों के साथ भी संबद्ध कर प्रयुक्त किया गया है। एक बार वह सूर्य के और एक बार इंद्र के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। विश्वकर्मा को सर्वोच्च देव मानकर ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ बताया गया है जो अशेष सत्ता के अकेले सम्राट है। संभवतः विश्वकर्मा पद पहले–पहल सूर्यदेव का विशेषण बनकर उनके साथ प्रयुक्त हुआ जो आगे चलकर उत्तर वैदिक काल में एक पृथक देव का पर्यायवाची बना और क्रमशः विकास पाकर विश्वकर्मा के रूप में सबका त्वष्टा बनकर उभरा ब्राह्मण ग्रंथों में विश्वकर्मा का तादात्म्य प्रजापति के साथ किया गया है। इससे आगे उन्हें देवताओं का त्वष्टा माने जाने लगा और वे मात्र देव–शिल्पी बनकर रह गये। जहाँ तक प्रजापति पद का संबंध है, यह पद ऋग्वेद में एक स्थल पर सविता देव का विशेषण बनकर प्रयुक्त हुआ जहाँ उनको स्वर्ग का धारक और विश्व का प्रजापति बताया गया है।

ऋग्वेद के दशम मंडल में प्रजापति का चार बार एक स्वतंत्र देव के रूप में उल्लेख है। अथर्ववेद में संतानों व प्राणियों के रक्षक के रूप में प्रजापति का आह्वान किया गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में उन्हें प्रमुख देव माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वे आदिकाल से अकेले ही विराजमान है। वह सर्वप्रथम याज्ञिक है। सूत्र ग्रंथों में प्रजापति ब्रह्मा है और उपनिषदों में वह निर्गुण ब्रह्म है। ऋग्वेद के विश्वकर्मा और उत्तर वैदिक काल के विश्वकर्मा दोनों एक ही है या अलग–अलग, इस पर मतैक्य नहीं है। राहुल सांकृत्यायन का कहना है कि ऋग्वेदी विश्वकर्मा और पीछे उभरने वाले देव–शिल्पी विश्वकर्मा में परस्पर कोई संबंध नहीं है। इन दोनों विश्वकर्माओं में परस्पर भले ही कोई संबंध रहा हो या न रहा हो, लेकिन ये दोनों ही मूलतः सृष्टा और शिल्पी है। विश्वकर्मा देव–शिल्पी और परम दक्ष सृजक है।

उनके सृजे रूप परमपूर्ण–प्रतिदर्श है। इसीलिए उन्हें साधुकर्मा कहा गया है। वह रूपों के रचने में अति–निपुण हैं और यह इसलिए कि वह अपने मन, कल्पना शक्ति और रचना–शक्ति से पूर्णरूपेण संपन्न हैं। अतः वह परम सादूक हैं। उसका रचा सृष्टि का प्रत्येक रूप दिव्य और परमसत्य का प्रतीक है। सृष्टि की रचना में विश्वकर्मा के सामने प्रतिरूप क्या रहा होगा, इसका अनुमान उनके सृजित रूपों को ही देखकर लगाया जा सकता है, क्योंकि उनके मन में जैसा प्रतिरूप रहा होगा उसी का प्रतिफलन इन समस्त रूपों में हुआ है। अतः इन रूपों से ही प्रतिरूप का अनुमान किया जा सकता है। रूपों की रचना में प्रतिरूप प्रथम व अनिवार्य है। विश्वकर्मा ने यह प्रतिरूप चाक्षुष दर्शन से अपने मन में धारण किया अतः यह प्रतिरूप विश्वकर्मा के मन चित्त में था। प्रतिरूप का शिल्पी इसीलिए अग्रज है, प्रथम या प्रथमच्छद है। विश्वकर्मा ने अपना यह समग्र सृजन 'यथा तथा' के महान् समीकरण द्वारा किया। 'यथा' अर्थात् 'इस' बराबर है 'तथा' अर्थात्, 'उस' के। 'यथा' का स्रोत है 'तथा' अर्थात्, तथा के मूल में ही 'यथा' निहित है। यह समस्त दृश्यमान जगत् यथा है। इसकी विविधता और विभिन्नता अनंत है इसलिए इसका पूर्णरूपेण वर्णन शब्द या विचार–शक्ति से परे है। विश्वकर्मा परम सांद्रक की भाँति परम–रूप, पर–रूप और अ–रूप हैं। उन्हें वैरूप्य (विविध रूपवाला) भी कहा जाता है। जब वह एक रूप (प्रतिरूप) से नाना रूपों की रचना करते हैं? तो वह स्वतः ही वैरूप्य हो जाते हैं। वस्तुगत माध्यम से रूपों की रचना हाथों द्वारा होती है। शिल्प हस्त–कर्म है। अपने हाथों द्वारा ही शिल्पी नाना रूपों में व्याप्त होता है। 'जात पतिरेक आसीत्' की यही व्याख्या है कि विश्वकर्मा अपनी भुजाओं द्वारा निखिल सृष्टि में व्याप्त है। विश्वकर्मा के सृजन की एक और सबसे बड़ी विशेषता है कि वह देश तथा काल की सीमाओं से आबद्ध नहीं है, अपितु 'हविषा वावृधाना' अर्थात्, निरवरत विस्तार पाने वाली प्रक्रिया में है। इस प्रकार विश्वकर्मा अद्वितीय, प्रथम और महान् शिल्पी है।

देवता या शिल्पी मात्र एक शिल्प में ही नहीं, बल्कि अनेक शिल्पों में निपुण है। जो शिल्पी जितने अधिक शिल्पों में निपुण है वह उतना ही महान् है। अतः रूपों को गढ़ना, जिसमें सभी प्रकार के हस्त–शिल्पों के साथ चित्र, मूर्ति और वास्तुकला आ जाती है, विश्वकर्मा का कृत्य है। विश्वकर्मा महान् देव–शिल्पी है अतः वह इन सभी कलाओं में निपुण है। चित्र व मूर्तिकार विश्वकर्मा 'रूप पिशतु' है अर्थात्, वह रूपों के बनाने वाले चित्रकार और मूर्तिकार है। चित्र वस्तुगत द्वि–आयामी और मूर्ति त्रि–आयामी कला–माध्यम है। इनमें मूलतः रूप की प्रतिष्ठा रहती है। रूप ही सब कुछ है। सृष्टि में जो कुछ भी है वह सब रूप है। विश्वकर्मा स्वयं इन्हीं रूपों में व्याप्त है। सूर्य, चंद्रमा, तारे, ग्रह–नक्षत्र, मनुष्य, पक्षी, पहाड़, नदियाँ, वृक्ष–वनस्पति आदि समस्त चर–अचर सृष्टि उनके रचे चित्र और मूर्ति रूप है। इन रूपों का सृजन विश्वकर्मा ने अपने चित्त द्वारा किया है। चित्त में धारण हुआ 24 रूप या चित्र (प्रतिरूप) है। विश्वकर्मा के चित्त में यह रूप आधृत हुआ फलतः विश्वकर्मा चित्रकार हैं। विश्वकर्मा ने ही काष्ठ द्वारा रूपों (मूर्तियों) को गढ़ा ये मूर्तियाँ उन्होंने किस वन के किस वृक्ष के काष्ठ से बनायी है इसकी जानकारी ऋग्वेद के ऋषियों को नहीं थी, इसीलिए वे इस बारे में परस्पर विचार–विमर्श करते हुए दिखाये गये हैं। उनका विचारणीय प्रश्न है कि स्विट्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतथः अर्थात्, वह कौन सा वन था, कौन–सा वृक्ष था जिस (की लकड़ी) से विश्वकर्मा ने द्यौ–पृथ्वी (पर्यंत समस्त रूपों) को मूर्ति रूप में तक्षु अर्थात्, काष्ठ का तक्षण करके गढ़ा वास्तुकार विश्वकर्मा, ऋग्वेद के अनुसार विश्वकर्मा ने पृथ्वी को रचा है और द्यौलोक को धारण कर रखा है। अर्थात् उन्होंने पृथ्वी पर स्तंभ लगाकर आकाश को टिका (भुवनानि धारयन्) रखा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वास्तुकार गृह–निर्माण में स्तंभ लगाकर छत को टिका देता है। घर की छत को स्तंभ पर टिकाना एक साधारण–सा काम है, लेकिन पृथ्वी से स्तंभ लगा द्यौलोक को ठहराना, जिससे वह नीचे न गिरे (द्यावापृथिवी अप्रथेताम्) और वह आज तक कभी नीचे नहीं गिरा यह एक महान् कार्य है और यह महान् कार्य महान् वास्तुकार देव–शिल्पी विश्वकर्मा का ही है।

अस्तु, विश्वकर्मा वास्तुविद्या के प्रथम आचार्य एवं वास्तुकार हैं, उन्होंने सृष्टि में रूपों (आवासों) का निर्माण भी काष्ठ से ही किया है। विश्वकर्मा के उपरांत त्वष्टा को दक्ष शिल्पी, वास्तुकार और वास्तुविद्या का आचार्य माना गया है। कर्मण्य देवों में त्वष्टा सविता के पश्चात् द्वितीय स्थान पर है। त्वष्टा अत्यंत कार्यकुशल है? मानो वह तक्षण कला के तो साक्षात अवतार है। त्वष्य ने तक्षण कला से विविध वस्तुओं की अद्‌भुत रचनाएँ की है। उन्होंने इंद्र के लिए वज्र का निर्माण किया है। बृहस्पति के लिए अयस का परशु बनाया है। वह जटिल रचनाओं के विशेषज्ञ है। उन्होंने देवों के लिए शोभन पात्रों का निर्माण किया है। उनका बनाया एक अनूठा सोम पात्र (चमस) तो सर्वाधिक उल्लेखनीय रहा है। जो उनकी विलक्षण शिल्पकला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना गया है। त्वष्टा के बनाये ये चमस इतने आकर्षक और भव्य थे कि इन पात्रों में सोमपान करना देवगण अपना अहोभाग्य मानते थे। त्वष्टा ने शीघ्रगामी अश्वों को उत्पन्न किया उन्होंने ही समस्त प्राणियों को रूप संपन्न बनाया है और सजीव रूपों के निर्माता हैं। वह वन्य पशुओं के भी नियता है। इस प्रकार वह कर मानव व समस्त जीवधारियों के रूपों के विधायक है। वह रूप के निष्पादक विश्वपिता है। अथर्ववेद के अनुसार त्वष्टा धनवान है, उनके पास संपत्ति से भरा कलश और सोम से भरा चमस है उनके बारे में यह भी कहा जाता है कि वह इंद्र के रचयिता (मूर्तिकार) है। त्वष्टा को सोम प्रिय है अतः इंद्र उनके घर पर सोमपान करता है। इंद्र ने उनके सोम को चुराने के लिए उनकी हत्या ही कर दी। तैत्तिरीय संहिता[ष] के अनुसार त्वष्टा की पत्नी असुर कुल की थी जिससे ज्येष्ठ पुत्र विश्वरूप पैदा हुआ। विश्वरूप आगे चलकर देवताओं का पुरोहित बना।

मुद्रा का आविर्भाव एवं प्राचीनता

अमित बिसेन

प्राचीन भारतीय मुद्रा अविर्भाव के सम्बन्ध में मुद्राशास्त्र वेत्ताओं में मतभेद रहा है। पाश्चात्य विद्वान् भारतीय मुद्रा को स्वदेशी रीति से स्वतः उत्पन्न नहीं मानते, वे सदैव इनमें बाह्य अनुकरण की प्रवृत्ति मात्र दर्शाते है, परन्तु ऐतिहासिक अन्वेषणों तथा उत्खनित वस्तुओं के आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि भारतीय मुद्रा स्वतंत्र रूप से निर्मित हुई। भारतीय मुद्रा

किसी अन्य मूलरूप का अनुकरण नहीं है। 'भारतीय मुद्रा की प्राचीनता हेतु दो प्रकार के विभिन्न साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। प्रथमतः स्वयं मुद्राएँ तथा द्वितीय साहित्यिक साक्ष्य जो वेदों से लेकर प्रायः संस्कृत साहित्य तक विस्तृत रूप से उल्लिखित हैं। पाश्चात्य एवं भारतीय मुद्रा शास्त्रज्ञों द्वारा मुद्रा आविर्भाव तथा प्राचीनता (तिथि–क्रम) पर समय–समय पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय मुद्रा विदेशी प्रभाव मुद्रा शास्त्र के क्षेत्र में अग्रणी विल्सन तथा जेम्स प्रिंसेप का मत था कि भारत में यूनानी आक्रमण के पश्चात् ही मुद्राएँ प्रचलित की गई। विल्सन का मत है कि भारतीयों ने उनके पड़ोसी बैक्ट्रिया के लोगों से रोम से व्यापार सम्बन्ध होने के कारण मुद्रा प्रयोग सीखा। उनका एक मात्र आधार औदुम्बर मुद्रा तथा यूनानी मुद्रा की समानता थी, परन्तु यूनानी शासक अपलदत की मुद्रा गोलाकार है तथा पुरो भाग पर हस्ति एवं वाम भाग पर वृषभ की आकृति का अंकन है, जबकि आहत मुद्राएँ विभिन्न आकार व चिन्हों से युक्त है। कालान्तर में प्रिंसेप ने अपने विचार में परिवर्तन कर यह मत प्रकट किया कि इन मुद्राओं की निर्मिति स्वदेशीय थी। प्राचीन भारतीय मुद्रा पर किसी भी प्रकार का यूनानी प्रभाव प्रतीत नहीं होता। इस संदर्भ में भीरमांड टीले के उत्खनन् सन् 1912 में मॉर्शल द्वारा प्राप्त मुद्राओं के संग्रह की प्राप्ति अतीव महत्वपूर्ण है। इसमें बैक्ट्रिया के शासक डायोडोरस की एक मुद्रा एवं अन्य सभी भारतीय मुद्राएँ थीं। उनमें डायोडोरस की मुद्रा नयी प्रतीत होती है तथा अन्य मुद्राएँ घिस जाने से प्राचीन प्रकट होती हैं। ईसा पूर्व 250 वर्ष में डायोडोरस भारत में राज्य करता था। भारतीय मुद्राएँ इस शासक से अवश्य प्राचीन हैं। यूनानी इतिहासकारों से ज्ञात होता है कि जब सिकन्दर ने उत्तर–पश्चिम भारता पर आक्रमण किया तो उस मार्ग में तक्षशिला के राजा आम्भी ने यूनानी राजा का स्वागत किया और भेट में चाँदी की मुद्राएँ प्रदान कीं। इससे यह स्वतः प्रमाणित है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व भारत में मुद्राओं का प्रचलन था, अतएव भारतीयों का यूनानी मुद्राओं की नकल पर मुद्रा तैयार करने का तथ्य अप्रमाणिक सिद्ध हो जाता है। भारतीय कला में ऐसे दो चित्र उत्कीर्ण हैं, जिनमें मुद्राओं का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। मध्य प्रदेश में स्थित भरहुत की वेष्टनी पर अंकित चित्र में गाड़ी से मुद्राएँ ले जाकर भूमि पर फैलाते हुए दिखलाई गयी हैं। इसमें जेतवन का दृश्य अंकित कर उसमें चौकोर कार्षापण प्राचीन मुद्राएँ बिछायी गई हैं। अन्य चित्र बोध गया मंदिर के स्तम्भों पर अंकित है। इन प्रमाणों से यह स्पष्टतः प्रकट है कि भारतीय मुद्राएँ स्वदेशी तथा स्वतः भारत में निर्मित हुई एवं उनका आकार चौकोर था।

भारत के प्राचीन स्थलों के उत्खनन से चिन्हित मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। जॉन मार्शल द्वारा किये गये दो उत्खननों–सर्व प्रथम मीरमाण्ड टीले का उत्खनन सन् 1912 में किया गया जिसमें 167 रजत–आहत मुद्राएँ तथा एक मुद्रा डायोडोटस द्वितीय की भी प्राप्त हुई हैं। द्वितीय स्थल तक्षशिला के अन्तर्गत सिरकप उत्खननश सन् 1924 में 1171 रजत आहत मुद्राएँ एवं दो स्वर्ण मुद्राएँ, एक सिकन्दर की मुद्रा तथा द्वितीय फिलिप एरिडियस की प्राप्त हुई। इन मुद्राओं की प्राप्ति से जॉन मार्शल ने इन आहत मुद्राओं का काल तीसरी शती ईसा पूर्व का अंतिम काल निर्धारित किया है। प्रथम निधि का समय प्रायः मौर्यकाल तथा द्वितीय निधि का समय मौर्यकाल माना है। पुरातात्विक साधन स्रोतों से यह प्रतीत होता है कि अचित्रित ढली मुद्राएँ लेख युक्त मुद्राओं से पूर्व प्रचलित थीं। उत्खनन् के स्तरीकरण के प्रमाणानुसार प्राचीन भारत के विभिन्न स्थलों जैसे हस्तिनापुर, कौशाम्बी, राजघाट, श्रावस्ती, सहगोरा आदि से यह प्रमाणित

होता है कि अचित्रित ताम्र मुद्राएँ चौथी या तीसरी शती ईसा पूर्व में प्रचलित थीं। ये मुद्राएँ आहत–मुद्राओं तथा उत्तरीय कृष्ण राजित मृण्मय पात्रों के साथ में प्राप्त हुई हैं। पूर्वी भारत के उत्खनित विभिन्न स्थलों जैसे वैशाली, चिरौद, सोनपुर, कुम्हरार तथा पश्चिमी बंगाल के स्थानों से ज्ञात मुद्राओं से यह प्रकट है कि ये मुद्राएँ द्वितीय शती ईसा पूर्व के मध्य प्रचलित हुईं। मालवा के उत्खनित विभिन्न स्थलों जैसे आवरा, उज्जयिनी एरण कसरावद, दंगवाड़ा, भीम बेटका, मेहेश्वर–नावडातोली, रुनिजा तथा विदिशा के स्तरीकरण के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि ताम्र–आहत मुद्राएँ ताम्राश्मयुगीन स्तर से प्राप्त नहीं हुई हैं, अतएव इनके प्राप्ति स्तर से भी इनका कालमान ज्ञात होता है। उत्तरीय कृष्ण–राजित मृण्मय पात्र के साथ मिलने के कारण इनकी तिथि वैज्ञानिक रीति से ईसा पूर्व छठी शती निर्धारित की जा सकती है।

लेख युक्त मुद्राएँ लेख–विहीन मुद्राओं के पश्चात् प्रचलित हुई। इस प्रमाण की पुष्टि उज्जयिनी, एरण, नावडातौली तथा विदिशा उत्खनन के स्तरों से प्राप्त मुद्राओं से होती है। उज्जयिनी उत्खनन से उज्जयिनी नगर नामांकित तीन मुद्राएँ द्वितीय काल के मध्य स्तर से (500 ई. पू. से 200 ई. पू. तक) प्राप्त हुई है। ये मुद्राएँ उत्तरीय कृष्ण–राजित मृण्मय पात्र के साथ मिली हैं। एरण उत्खनन में मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में राजा इन्द्रगुप्त नामांकित सीसे का एक अर्द्ध वृत्ताकार टुकड़ा, पकी मिट्टी की एक लेख युक्त मुहर, जिस पर एरण नगर का पुराना नाम 'एरिकिणे' लिखा है, द्वितीय काल के स्तर (द्वितीय शती ईसा पूर्व) से ज्ञात है। नावदातोली उत्खनन में (400 ईसा पूर्व से 100 ईसा पूर्व) एक मुद्रा प्राप्त हुई है। विदिशा (बेसनगर) उत्खनन प्राप्त हुई हैं।

वैदिस नगर नामांकित मुद्राएँ द्वितीयकाल (तीसरी शती ईसा पूर्व से दूसरी शती ईसा पूर्व) से अतएव प्राचीन भारतीय साहित्यिक साक्ष्य, जिनमें वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, उपनिषद, पाणिनि की अष्टाध्यायी, कात्यायन श्रौतसूत्र, महाभारत, बौद्ध साहित्य (विभिन्न जातक, विनय पिटक, मज्झिम व अंगुत्तर निकाय), कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मनुस्मृति व याज्ञवल्क्य स्मृति तथा पुरातात्विक भारत के विभिन्न उत्खनित स्थलों के स्तरों से प्राप्त मुद्राओं के प्रमाणों के आधार पर प्राचीन भारतीय मुद्राओं का आविर्भाव काल 800 ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व के मध्य स्पष्ट रूप से निर्धारित किया जा सकता है। ये मुद्राएँ गुप्तकाल से पूर्व तक दूसरी, तीसरी शती ईसवी तक भारत में प्रचलित रहीं। इस प्रकार सुदीर्घ काल तक 800 ईसा पूर्व से लेकर तीसरी शती ईसवी तक लगभग ग्यारह सौ वर्षों तक इन मुद्राओं का भारत में प्रचलन रहा। विदेशी तथा भारतीय मुद्रा शास्त्रज्ञों ने समय–समय पर प्राचीन भारतीय मुद्राओं के प्राप्ति–स्थल, स्थानीयता, आकार–प्रकार, तौल तथा मुद्राओं पर अंकित चिन्हांकनों को दृष्टिगत रखते हुए उनका वर्गीकरण किया है। थियोबॉल्ड ने तक्षशिला, उज्जैन, एरण, बनारस आदि स्थलों से प्राप्त मुद्राओं पर अंकित लगभग तीन सौ चिन्हों का विवरण दिया है। एक सौ पचास मुद्राओं के चिन्हों के परीक्षणोपरान्त, उन्होंने यह तथ्य प्रकट किया है कि मुद्राओं के पुरोभाग पर 16 चिन्ह तथा वाम भाग पर 28 चिन्ह अंकित हैं तथा 15 चिन्ह ऐसे हैं जो मुद्राओं के दोनों ओर अंकित हैं। पुरो भाग पर पाँच चिन्ह एवं वाम भाग पर दो चिन्हों से अधिक का अंकन नहीं है। उन्होंने मुद्राओं को चिन्हों के आधार पर छः वर्गों में विभाजित किया है– पुरुषाकृतियाँ, अग्नि आदि, आयुध, मानवनिर्मित स्तूप, धनुष–बाण आदि, पशु आकृतियाँ, वृषभ, हस्ति, अश्व, अज, श्वान आदि, वृक्षांकन, फल शाखा, वेदिका, छत्र, यष्टि आदि, सौर मंडल या शिव–पूजा से सम्बन्धित लिंग, त्रिशूल आदि, विविध और अज्ञात चिन्हांकन।

प्राचीन भारत में सिक्का ढलाई का एक लम्बा इतिहास रहा है। सबसे प्राचीन चांदी या ताम्बे के पंचमार्क (ठप्पे लगाकर बनाए गए) सिक्के थे। इन सिक्कों पर कोई अभिलेख या मुद्रालेख नहीं होता था और इन्हें ठप्पे लगाकर साँचे में ढालकर तथा ठोक–पीटकर बनाया जाता था। अभिलेखयुक्त प्रक्विघन सिक्के उज्जयिनी, कौशाम्बी, वाराणसी, महिष्मति, त्रिपुरी, एरण आदि नगरों से जारी किये गए थे और इन पर ब्राह्मी अक्षरों में मुद्रालेख अंकित होता था। राजस्थान और पंजाब के यौधेय, वृष्णियों, औदुम्बरों, कलूतो आदि जातियों ने बड़ी संख्या में जनजातीय सिक्के जारी किये।

यूनानी बैक्ट्रियनों या भारतीय–यूनानियों के सत्ता में आने पर भारतीय सिक्का प्रणाली पूरी तरह परिवर्तित हो गई। सम्भवतः भारतीय–यूनानी शासकों ने सबसे पहले भारत में राजमुद्रा या शाही सिक्के जारी किये इन शासकों ने हेलेनिक (67.7) या परिवर्तित वजन (86.45) के मानक के अनुसार चंडी के सिक्के जारी किये। इन सिक्कों पर जारी करने वाले शासक के नाम और आकृति के साथ–साथ खरोष्ठी लिपि में प्राकृत और यूनानी भाषा एवं लिपि में मुद्रालेख लिखा होता था।

शकों ने भी भारतीय–यूनानी सिक्कों के स्वरूप के अनुरूप शक सिक्के जारी किये। पहली ईस्वी में कुषाणों के सत्ता में आने के साथ भारतीय सिक्का प्रणाली में काफी सुधार हुआ। कुषाणों के सोने के सिक्कों पर विभिन्न भारतीय तथा गैर–भारतीय देवी–देवताओं की आकृतियाँ और नाम अंकित होते थे। दूसरी और चौथी शताब्दी ईस्वी में पश्चिम भारत पर राज करने वाले 'शक' राजाओं के चांदी के सिक्कों पर शक संवत के अनुसार जारी करने का वर्ष लिखा होता था।

'शक' साम्राज्य को ध्वस्त करने वाले गुप्त वंश के सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने शक सिक्कों की अनुकृति वाले चाँदी के सिक्के जारी किये। गुप्त काल के सोने के सिक्के संस्कृत सुलेख और सूक्तियों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन सिक्कों पर कुछ घटनाओं, जैसे– अश्वमेध यज्ञ, के आयोजन और साथ ही जारी करने वाले शासक के व्यक्तित्व का भी चित्रण किया गया है, जैसे वीणा बजाते समुद्रगुप्त की आकृति सिक्कों पर उत्कीर्ण है। इसीलिए गुप्तकालीन सिक्कों को कुछ इतिहासकारों ने प्रचार मुद्रा की संज्ञा दी है।

राजा और राजतंत्र

ओमप्रकाश प्रसाद

समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति और उनकी समस्याओं के सामाधान के लिए प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की गई। उत्पादन में वृद्धि अर्थात् अतिरेक को प्रोत्साहित करने के लिए ऐसा आवश्यक पालन–पोषण समाज करता है। राज्य की अभिव्यक्ति शासन है। शासन करने की व्यवस्थित प्रक्रिया को चलाने के लिए किसी एक व्यक्ति की नियुक्ति या निर्वाचन होता है। उस व्यक्ति में काफी अधिकार निहित होते हैं। धीरे–धीरे वह व्यक्ति शासन करने लगता है और नृप या राजा बन जाता है। इसके पश्चात् राज्य का विचार अंकुरित होता है। कुछ समय पश्चात् इस एक व्यक्ति में ही सारे अधिकार निहित हो जाते हैं। समाज और शासन के मध्य राजा एक धुरी है। राजा, शासन और धर्म का सारा खर्च जनता उठाती है। राजा कभी सरदार के नाम से, कभी राजन्य के नाम से, कभी सम्राट के नाम से और गुप्तकाल में ईश्वर, स्वामी और पिता के रूप में जाना जाने लगा। वेदों में राजा की तुलना इन्द्र से की गई है। इन्द्र को देवताओं का नायक बताया गया है। वैदिककाल में पशुओं के हरण के लिए युद्ध होते रहते थे। जनों के बीच भी आपस में लड़ाइयाँ नेतृत्वकर्ता के रूप में बढ़ जाती थीं। महाभारत में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि पहले न राजा था, न राज्य। धर्म सबकी रक्षा करता था। बाद में चलकर धर्म में गिरावट आने से मनुष्यों में लोभ, काम और क्रोध उत्पन्न होने लगा। खाने की वस्तु और नहीं खाने की वस्तु में कोई भेद नहीं रहा। पाप और पुण्य में भी अन्तर नहीं रहा। अन्त में वेद भी नहीं रहे। देवों को लगा कि अब कुछ भी नहीं बचेगा। वे ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने अपनी असीम बुद्धि के द्वारा पुरुषार्थों की कल्पना का आख्यान किया। उन्होंने धर्म, अर्थ और काम के सन्तुलित सेवन से मोक्ष का मार्ग बताया। उन्होंने राजधर्म का महत्वपूर्ण अंग दंड को बताया। तब देवों ने विष्णु से प्रार्थना की कि वे किसी मनुष्य का चयन कर दें जो दंड धारण करे। विष्णु ने एक पुत्र को जन्म दिया किन्तु उसके वंशज ऋषि हुए। अन्त में वेण राजा हुआ किन्तु उसने धर्म का पालन नहीं करते हुए शासन किया, अतः ऋषियों ने उसका वध कर दिया। उसके शरीर से मथकर पहले उन्होंने निषाद को जन्म दिया, जिसे वनवास दिया गया। फिर ऋषियों ने पृथु की उत्पत्ति की। पृथु ने ब्राह्मणों का सम्मान किया। उसने कृषि प्रारम्भ की। उसने प्रजा का रंजन किया। इसलिए उसे राजा कहा गया। इस तरह राजा सबसे अधिक स्वीकार्य व्यक्ति होती गया। यह प्रचलित किया गया कि राजा इसलिए दंड धारण करता है ताकि वह उन लोगों को सजा दे सके जो समाज के नियम को तोड़ते हैं। समाज में व्याप्त अराजकता को समाप्त करने के लिए कुछ लोग इकट्ठे हुए और उन्होंने सबके आचरण के लिए कुछ नियम बनाएँ। उन्होंने देवताओं से प्रार्थना की कि वे एक राजा नियुक्त कर दें। मनु शासन का भार ग्रहण करने के लिए प्रारम्भ में तैयार नहीं हुए किन्तु बाद में तैयार हो गए। बदले में प्रजा अपनी अनाज की उपज का दशमांश, पशुधन का पचासवाँ भाग और पुण्य का चौथा भाग देने को राजी हुई। प्रारम्भिक साहित्य में राजा को देवताओं से उत्पन्न बताया गया किन्तु बाद के साहित्य में उसे स्वयं देवता बता दिया गया। राजा की शक्ति में इस तरह वृद्धि होती गई और उसका पद पवित्र माना जाने लगा। बौद्धग्रन्थ दीघनिकार्य में बताया गया है कि प्रारम्भ में लोगों ने जंगल साफ करके कृषि योग्य भूमि में वृद्धि की उत्पादन में वृद्धि हुई। धन में वृद्धि के साथ अव्यवस्था फैलने लगी। एक–दूसरे के धान की चोरी होने लगी। आपस में लोग झगड़ते थे। कई प्रकार के विवादों में लोग फँसने लगे। अन्त में लोगों ने एक ऐसे योग्य व्यक्ति को चुना जो उनके विवादों का निर्णय कर सके। उसे दंड देने का अधिकार प्रदान किये गए। उसे अपने धन का एक भाग देने को लोग राजी हो गए। उसे राजा कहा गया, क्योंकि वह सबको प्रिय था। उसे महासम्मत कहा गया, क्योंकि सबने मिलकर उसका चयन किया था। अर्थशास्त्र में राजा के लिए स्वामी शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वामी शब्द में स्वायत्तता और स्वामित्व का भाव शक्तिशाली है। राजा के लिए स्वामी शब्द का प्रयोग प्रमाणित करता है कि मौर्य काल में राजा की शक्ति और में काफी बदलाव आ चुका था। मौर्य शासक इतने शक्तिशाली हो चुके थे कि इन्हें देवत्व के दावे की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसी समय से पुरोहित वर्ग और शासन प्रबन्ध से जुड़े पदों पर नियुक्ति पाने वाले ब्राह्मणों में अन्तर स्पष्ट होने लगा। पुरोहितों ने राजा को वैधता प्रदान करने वाले प्रमुख यज्ञों को पुनर्जीवित किया। राजाओं की वंशावलियाँ उन्होंने ही तैयार की। उन्होंने कई राजवंशों को क्षत्रिय की हैसियत प्रदान की। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार, राजा को बलि वसूलने का अधिकार था, का पारिश्रमिक कहा गया। महाभारत में लिखा है कि राजा ऐसा कर न लगाए जिससे प्रजा को पीड़ा पहुँचे, कर–ग्रहण उसी प्रकार करना चाहिए जैसे मधुमती से मधु ग्रहण करती है। यह भी लिखा है कि धनवान प्रजा को प्रोत्साहित करना चाहिए, क्योंकि राज्य की समृद्धि धनवानों से प्राप्त कर से ही है। कर, लगान, चुंगी और शुल्क तथा वाणिज्य–ये राजा की आय के साधन हो गए। इनसे राजकोष सम्पन्न होता था। स्त्रियाँ, बच्चे, ब्राह्मण, साधु–संन्यासी और शूद्र–सेवक कर–मुक्त होते थे। इन सभी लोगों का आर्थिक उत्पादन से प्रत्यक्ष रिश्ता कुछ विशेष नहीं था। आय का उपयोग एवं वितरण राजा और राजा का कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना था। दूसरे शब्दों में विदेशी खतरे से बचाव करना और वर्णाश्रम धर्म का पालन प्रजा से करवाना भी राजा का प्रकार से मिलकर करते थे।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

नगर निर्माण और उसकी विकास गाथा

पुराकाल में भारतीय जीवन के आदर्श केन्द्र ग्राम रहे हैं, किन्तु भारतीय मनीषा सदा से नागर रही है और साथ ही ग्राम और नगर के जीवन में एक आदर्श–युक्त सन्तुलन भी रहा है। गाँव में फल–फूल कर अपने वर्चस्व की परीक्षा के लिए प्रत्येक रचनाकार कृतिकर्मी अथवा यान्त्रिक को नगर में खाना पड़ता था। वहीं वह पारखियों और विशेषज्ञों का अनुमोदन प्राप्त करता था। परिणामस्वरूप नगर–जीवन उत्तरोत्तर समुद्र होता जाता था। पाटलिपुत्र प्रयोध्या, काशी, प्रयाग, तक्षशिला, प्रवरपुर, यानेश्वर, नालन्दा, मिथिला, ताम्रलिप्ति और नम्मा आदि नगरों की यही कहानी है। बड़े–बड़े काल–खंडों को पार करते हुए प्राचीन नगरों को कहानी का विस्तार होता गया। परिवा, त्राकार, तोरणद्वार, हाट, राजमार्ग तथा रंगशाला आदि के निर्माण के माध्यम से भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करते हुए हमारे पुराने नगर किस प्रकार उपनगर, शापानगर सीमान्तपुर तक विस्तारित होते हुए वाणिज्य व्यापार और विदेश यात्रा के निमित्त पत्तन (बन्दर–गाह) तक पहुँच चुके थे, यह बहुत ही महत्वपूर्ण एवं रोचक इतिहास है। दुर्भाग्य का विषय है कि विदेशी निर्माण–कौशल और अभियान्त्रिकी से अभिभूत आज का शिक्षित वर्ग भी अपने देश के अतीत की इस गौरव गाथा से नितान्त अपरिचित है। 'हमारे पुराने नगर' नामक पुस्तक इसी चिन्त्य प्रभाव की पूर्ति करती हैं। इसके लेखक डॉ. उदय नारायण राय प्रस्तुत विषय के अधिकारी विद्वान् हैं। उन्होंने प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों को बड़ी सरल भाषा तथा सुबोध शैली में लिखा है। नगर, मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का मुख्य समाश्रय हर समय हो रहा है। यह सोचना कि प्राचीन युग में हमारे देश में नगर नहीं हुआ करते थे या पुर और ग्राम में उस समय कोई विशेष अन्तर न था, बढ़ी भारी भूल होगी। हमारे प्राचीन शिल्प–शास्त्रों में नगर और ग्राम की अलग परिभाषा तथा उनके निर्माण की पृथक योजनाएँ उपलब्ध होती हैं। आर्थिक दृष्टि से यदि ग्राम–जीवन कृषिगुलक था, तो पुरजोवन व्यवसाय एवं वाणिज्यमूलक नगर अपनी व्यावसायिक वस्तुओं के विनिगम द्वारा प्राग से खाद्यान प्राप्त करता था। प्राचीन भारतीय साहित्य में विभिन्न कोटि के नगरों के उल्लेख मिलते हैं। यथा राजधानी, पुटभेदन (बड़े व्यापारिक नगर), पत्तन (बन्दरगाह) तथा द्रोणीमुख (नदी के मुहाने के समीप स्थितपुर) आदि।

महाभारत तथा रामायण में अयोध्या, मथुरा, द्वारका, हस्तिनापुर एवं इन्द्रप्रस्थ आवि पुरियों के मनोरन विवरण मिलते हैं। उनके शब्दचित्रण में प्राचीन महानगरों से ऐश्वर्य एवं डाटबाट को झाँकी प्राप्त होती है। अन्यन पुराणों, ऐतिहासिक महाकाव्यों एवं मूलभूत पाली तथा प्राकृत ग्रन्थों में भी नगरों का वर्णन हुआ

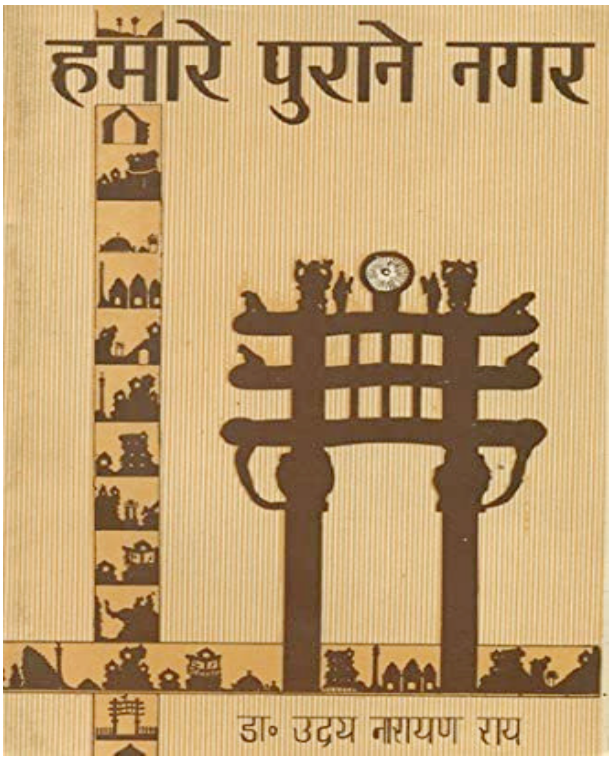

है जो कि सबंधा रोचक एवं ज्ञानबर्द्धक है। कुछ विद्वानों का यह कथन कि बाहरी प्रभावों के कारण भारतवर्ष में नगरों की उत्पत्ति हुई थी, भ्रान्तिमूलक है। हमारी प्रथम नागरिक सभ्यता सैन्धव सभ्यता थी, जिसकी सहज विशेषताएँ समकालीन विदेशी पुरसभ्यताओं में अप्राप्य थी। यहाँ की कला लिपि तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं में भारतीयता की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। हमारी नगर–निर्माण पद्धति निश्चय ही स्वदेशी वातावरण द्वारा निर्धारित थी। भारत–दर्शन करने वाले एक से एक विदेशी यात्री हमारे प्राचीन नगरों की शोभा और समृद्धि को देख कर दंग रह गए थे। हर्ष की बात है कि अल्प समय में ही इस कोटि के ग्रन्थ का प्रणयन करने में मैं समर्थ हो सका हूँ। राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के अनन्तर हमारा राष्ट्र अत्र आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के राजमार्ग पर अग्रसर हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि जनसाधारण के मानस में भी अपनी प्रतीत कालीन सांस्कृतिक निधि के परिज्ञान के विषय में एक नवीन जिज्ञासा का समुन्मीलन हो। प्रस्तुत प्रबन्ध इसी जिज्ञासा की संपूर्ति में एक सर्वमा अभिनव प्रयास है। हिंदुस्तान अकादमी इलाहाबाद द्वारा 1968 में प्रकाशित उदय नारायण राय की इस पुस्तक के छह अध्याय है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com